दैनिक जागरण

Date:04-06-22

प्रशासन का भी भारतीयकरण होना चाहिए

डा. विजय अग्रवाल, (लेखक पूर्व प्रशासनिक अधिकारी हैं)

देश की आजादी के 75 वर्षों के लंबे दौर में वह शुभ घटना पहली बार घटी, जिसमें 'स्वतंत्रता' शब्द के आत्मा तक पहुंचने की ललक और ऊर्जा, दोनों का अनुभव हो रहा है। यह घटना है-राजद्रोह कानून पर सुप्रीम कोर्ट के समक्ष सरकार की ओर से पेश किया गया एक नीतिगत बयान। केंद्रीय गृह मंत्रालय ने लिखित रूप से कहा कि 'प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी का यह मानना है कि अब जब देश आजादी का अमृत महोत्सव मना रहा है तो हमें सभी औपनिवेशिक कानूनों को समाप्त करने की कोशिश करनी चाहिए।' इस सराहनीय पहल के बाद मोदी सरकार का ध्यान देश के लिए सर्वोच्च नौकरशाहों की भर्ती करने वाले संघ लोकसेवा आयोग द्वारा आयोजित सिविल सेवा परीक्षा में एक औपनिवेशिक भाषा के प्रभुत्व एवं जकड़न की ओर जाना चाहिए। जाहिर है यह भाषा अंग्रेजी है, जिसने भारत की प्रतिभा और अभिव्यक्ति को लकवाग्रस्त कर दिया है।

हालांकि 1979 में तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने सिविल सेवा परीक्षा के दरवाजे अंग्रेजी के अतिरिक्त कई भारतीय भाषाओं के लिए खोल दिए थे, लेकिन पूरी तरह नहीं। उस समय से लेकर अभी तक परीक्षार्थियों को अंग्रेजी भाषा के अनिवार्य प्रश्नपत्र में क्वालीफाई करना पड़ता है। यदि आप कभी इस प्रश्नपत्र को देख सकें तो आपको यह समझने में जरा भी समय नहीं लगेगा कि गैर अंग्रेजी भाषियों के लिए इस वैतरणी को पार करना आसान नहीं है। इसके साथ ही यदि परीक्षा के अन्य प्रश्नपत्रों के हिंदी अनुवाद को भी देखें, जो मूलत: अंग्रेजी में तैयार होते हैं तो हिंदी के साथ किए जा रहे अन्याय को देखकर निश्चित रूप से आपको धक्का लगेगा। यह अनुवाद बेहद क्लिष्ट होता है और उसे समझना किसी के लिए भी टेढ़ी खीर है। सिविल सेवा परीक्षा में प्रश्नपत्र केवल दो ही भाषाओं-अंग्रेजी और हिंदी में आते हैं। स्पष्ट है कि यदि गैरअंग्रेजी भाषी युवाओं को हिंदी या अंग्रेजी आ रही होती तो वे इन्हें ही अपना माध्यम चुनते, लेकिन जब वे अन्य किसी भाषा को माध्यम के रूप में लेते हैं तो उन्हें प्रश्नपत्र की हिंदी ही समझ में नहीं आती। ऐसे में बाजी अपनेआप ही अंग्रेजी वालों के हाथों में चली जाती है। इसी के साथ कुछ लोगों को यह कहने का अवसर मिल जाता है कि गैरअंग्रेजी भाषी युवाओं का स्तर निम्न है। लोग इस गलत निष्कर्ष पर विश्वास भी कर लेते हैं, क्योंकि वे इस परीक्षा में व्याप्त भाषाई अन्याय की अंदरूनी जटिलताओं से अपरिचित हैं। इसी जटिलता के कारण सिविल सेवा परीक्षा में औसतन एक हजार में से 50 छात्र ही हिंदी माध्यम में परीक्षा देना पसंद करते हैं और उनमें बहुत कम परीक्षा पास कर पाते हैं। हिंदी माध्यम

से सिविल सेवा परीक्षा देने वाले परीक्षार्थी लगातार कम होते जा रहे हैं। इस वर्ष इस परीक्षा में हिंदी माध्यम से परीक्षा देने वाले केवल दो छात्र ही प्रथम 25 में अपना स्थान बना सके हैं। इनमें एक की रैंकिंग 18वीं है और दूसरे की 22वीं।

पिछले लगभग आठ वर्षों से मोदी सरकार की नीतियों के चलते देश की भाषाओं को गर्व से सिर उठाकर संवाद करने का अवसर मिला है। हिंदी भाषा के प्रचार के लिए मोदी सरकार ने संयुक्त राष्ट्र को आठ लाख डालर देने की घोषणा की है। इसी तरह इस सरकार ने अपने ईमेल में इंडिया के स्थान पर 'भारत' शब्द रखने का निर्णय लिया है। इसके अलावा 'वोकल फार लोकल' का नारा देकर ग्रामीण उत्पादों को वैश्विक पहचान दिलाने की ऐतिहासिक पहल हुई है। आखिर ऐसे में अंग्रेजी को वैश्विक भाषा के नाम पर लोगों पर थोपने का का काम क्यों किया जा रहा है? यदि अंग्रेजी इतनी ही जरूरी है तो इसे सिविल सेवा परीक्षा में चयनित युवाओं को ट्रेनिंग के दौरान सिखाया भी तो जा सकता है, जैसे कि कैडर मिलने पर उस अधिकारी को उस राज्य की भाषा सिखाई जाती है। यहां तक कि जब भारतीय विदेश सेवा में आने वाले अधिकारियों को विदेशी भाषा सिखाई जा सकती है तो फिर भला सिविल सेवा में आने वालों को बाद में अंग्रेजी क्यों नहीं सिखाई जा सकती? वैसे भी आज आधुनिक तकनीक ने भाषाई अनुवाद के काम को तो एकदम ही सरल एवं प्रयासहीन बना दिया है। कुछ दिनों पहले ही गूगल ने संस्कृत और भोजपुरी भाषाओं तक में अनुवाद की सुविधा उपलब्ध कराई है। इसने विश्व स्तर पर भाषा की दीवारों को ध्वस्त कर दिया है। आखिर हमारे यहां यह दीवार क्यों अभी तक इतनी मजबूत बनी हुई है?

एक अत्यंत महत्वपूर्ण तथ्य और। अभी उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों एवं मुख्यमंत्रियों के संयुक्त सम्मेलन में प्रधान न्यायाधीश एनवी रमणा ने न्याय के भारतीयकरण का विचार रखा। इस अवसर पर प्रधानमंत्री ने भी स्थानीय भाषा में न्याय देने की बात कही। ये जो विचार कानून की भाषा के बारे में रखे गए, वे प्रशासन के मामले में तो और अधिक गंभीरता से रखे जाने चाहिए, क्योंकि प्रशासक तो प्रत्यक्ष रूप से जन-जन से जुड़े रहते हैं। वास्तव में भारतीय प्रशासन के भी भारतीयकरण की बहुत जरूरत है। इसकी पूर्ति तभी होगी, जब भाषा संबंधी औपनिवेशिक मायाजाल को भी काटकर फेंका जाएगा।

मोरारजी देसाई ने हमें 'भाषाई डोमिनियन' दिलाया था। अब आजादी के इस अमृतकाल में सभी गैरअंग्रेजी भाषियों को भाषा संबंधी पूर्ण स्वतंत्रता देने की आवश्यकता है। हालांकि नौकरशाही इसमें बाधा पैदा करने की कोशिश करेगी, क्योंकि वर्तमान भाषाई व्यवस्था कुछ लोगों को एक अप्रत्यक्ष विशेषाधिकार देती है। जो सरकार अनुच्छेद 370 को समाप्त करने का साहस कर सकती है, वही अंग्रेजी भाषा की प्रभुता को भी खत्म कर सकती है।

Date:04-06-22

संघ प्रमुख की सीख

संपादकीय

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक मोहन भागवत की ओर से ज्ञानवापी प्रकरण पर दिया गया यह वक्तव्य बेहद महत्वपूर्ण है कि इस तरह के विवादों को आपसी सहमति से हल किया जाना चाहिए और यदि अदालत गए हैं, तो फिर

जो भी फैसला आए, उसे सभी को स्वीकार करना चाहिए। वास्तव में इस तरह के विवादों को हल करने का यही तार्किक एवं न्यायसगंत रास्ता है और इसी रास्ते पर चलकर शांति-सद्भाव के वातावरण को बल प्रदान किया जा सकता है। संघ प्रमुख ने यह भी स्पष्ट किया कि अब आरएसएस किसी मंदिर के लिए वैसा कोई आंदोलन नहीं करने वाला, जैसा उसने अयोध्या में राम जन्मभूमि मंदिर को लेकर किया था। उनका यह कथन इसलिए उल्लेखनीय है, क्योंकि इन दिनों काशी के ज्ञानवापी परिसर के साथ मथुरा के कृष्ण जन्मस्थान परिसर का मसला भी सतह पर है और दिल्ली की कुव्वत उल इस्लाम मस्जिद का भी, जहां के शिलालेख पर ही यह लिखा है कि इसे 27 हिंदू और जैन मंदिरों को तोड़कर बनाया गया। ये मामले भी उसी तरह अदालतों के समक्ष पहुंच गए हैं, जैसे ज्ञानवापी परिसर का। इसी के साथ देश के दूसरे हिस्सों में विभिन्न स्थानों पर मंदिरों के स्थान पर बनाई गई मस्जिदों के मामले भी उठाए जा रहे हैं। इसे देखते हुए संघ प्रमुख ने यह जो कहा कि हर मस्जिद में शिवलिंग देखना सही नहीं, उससे कुछ हिंदू संगठन असहमत हो सकते हैं, लेकिन उनके लिए विदेशी हमलावरों की ओर से तोड़े गए हर मंदिर की वापसी के लिए बिना किसी ठोस दावे के मुहिम चलाना ठीक नहीं। इसके बजाय उन्हें अदालतों का दरवाजा खटखटाना चाहिए। इसी के साथ किसी को यह अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए कि हिंदू समाज ज्ञानवापी और मथुरा जैसे अपने प्रमुख मंदिरों के ध्वंस को भूल जाए, क्योंकि यहां खुली-नग्न आंखों से यह दिखता है कि इन मंदिरों को तोड़कर वहां मस्जिदों का निर्माण किया गया। इस सच से मुस्लिम समाज भी परिचित है और उसे उससे मुंह नहीं मोड़ना चाहिए। इसलिए और नहीं, क्योंकि काशी की ज्ञानवापी मस्जिद हो या मथुरा की शाही ईदगाह, ये हिंदू समाज को मूर्तिभंजक आक्रांताओं की बर्बरता की याद दिलाते हैं। यह देखना दुखद है कि कुछ मुस्लिम नेता उस औरंगजेब का गुणगान करने में लगे हुए हैं, जिसने काशी के ज्ञानवापी में भी कहर ढाया और मथुरा के कृष्ण जन्मस्थान मंदिर में भी। यह ठीक है कि काशी, मथुरा के मामले एक बार फिर सतह पर आने के बाद 1991 के धर्मस्थल कानून का उल्लेख किया जा रहा है, लेकिन एक तो यह कानून कोई पत्थर की लकीर नहीं और दूसरे, खुद सुप्रीम कोर्ट ने यह कहा है कि यह कानून किसी धर्मस्थल के मूल स्वरूप के आकलन को प्रतिबंधित नहीं करता।

दैनिक भास्कर

Date:04-06-22

भारतीयता का ही दूसरा नाम है हिंदुत्व

डॉ. वेदप्रताप वैदिक, (भारतीय विदेश नीति परिषद के अध्यक्ष)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख मोहन भागवत ने ऐसा बयान दिया है, जिसे सुनकर कांग्रेसी, वामपंथी और मुस्लिम संगठन दांतों तले उंगली दबा लेंगे। ये सभी आरोप लगा रहे थे कि काशी और मथुरा में भी मंदिर और मस्जिद का झगड़ा संघ के इशारों पर खड़ा किया जा रहा है। लेकिन नागपुर के एक संघ-समारोह के समापन भाषण में उन्होंने दो-टूक शब्दों में कह दिया कि मस्जिदों को तोड़कर उनकी जगह मंदिर बनाने के पक्ष में संघ बिल्कुल नहीं है। यह ठीक है कि विदेशी आक्रमणकारियों ने अपना वर्चस्व जमाने के लिए सैकड़ों-हजारों मंदिरों को भ्रष्ट किया। उनकी जगह उन्होंने मस्जिदें खड़ी कर दीं। लेकिन यह इतिहास का विषय हो गया है। उसको अब दोहराना क्यों? यदि इतिहास को दोहराएंगे

तो रोज एक नया मामला खड़ा हो जाएगा। 'ज्ञानवापी के मामले में हमारी श्रद्धा परंपरा से चलती आई है। ...वह ठीक है लेकिन हर मस्जिद में शिवलिंग क्यों देखना?'

मोहन भागवत के तर्कों को अगर मुहावरों की भाषा में कहें तो वो यह होगा कि गड़े मुर्दे अब क्यों उखाड़ना? मंदिर हो या मस्जिद, दोनों ही पूजा-स्थलों पर भगवान का नाम लिया जाता है। हिंदू लोग किसी भी पूजा-पद्धति के विरोधी नहीं हैं। मोहनजी ने वही बात दोहराई जो अटलजी कहा करते थे। अटलजी का प्रसिद्ध बयान था कि मुसलमानों की रगों में वही खून बहता है, जो हिंदुओं की रगों में बह रहा है। मोहन भागवत ने तो यहां तक कह दिया है कि भारत के हिंदुओं और मुसलमानों का डीएनए भी एक ही है।

हिंदू धर्म और अन्य पश्चिमी मजहबों में यही फर्क है कि हिंदू जीवन शैली सभी पूजा-पद्धतियों के प्रति सहिष्णु है। मध्यकाल से यह वाक्य बहुत प्रचलित था कि 'अंदर से शाक्त हूं, बाहर शैव हूं और सभा मध्य मैं वैष्णव हूं।' आपको ऐसे अनगिनत भारतीय घर मिल जाएंगे, जिनके कुछ सदस्य आर्यसमाजी, कुछ सनातनी, कुछ जैनी, कुछ राधास्वामी, कुछ रामसनेही और कुछ कृष्णभक्त होंगे। वे सब अपने-अपने पंथ को श्रद्धापूर्वक मानते हैं लेकिन उनके बीच कोई झगड़ा नहीं होता। मेरे ऐसे दर्जनों मित्र-परिवार हैं, जिनमें पति-पत्नी अलग-अलग मजहबों और धर्मों को मानने वाले हैं। मोहनजी के कहने का सार वही है, जो गांधीजी कहते थे। सर्वधर्मसमभाव ही भारत का धर्म है। भारत-धर्म है। इसी भारत-धर्म को हम सभी तहे-दिल से मानने लगें तो सांप्रदायिक विवाद कभी हो ही नहीं सकता। यह ठीक है कि कई अभारतीय धर्मों के भारत में फैलने के मुख्य आधार भय और लालच रहे हैं लेकिन यह भी सत्य है कि इन विदेशी धर्मों ने उनके अपने देशों को कई अंधकूपों से निकालकर प्रकाशमान किया है। उनके देशों में उनकी भूमिका काफी क्रांतिकारी रही है। यदि उसका भारत की धर्मदृष्टि से उचित समन्वय हो सके तो वह सर्वश्रेष्ठ मानव-धर्म बन सकता है।

जो भारतीय हिंदू विदेशों में रहते हैं या यदि वे दुनिया के देशों में गए हैं तो क्या उन्होंने एक बहुत बड़े फर्क पर ध्यान नहीं दिया होगा? वह फर्क है, हमारे ईसाइयों, मुसलमानों, यहूदियों में और उन देशों में रहने वाले इन्हीं मजहबों के लोगों में। हमारे ईसाई, मुसलमान और यहूदी दिखने में और पहनावे में तो उनसे अलग होते ही हैं, उनके संस्कार भी उनसे अलग होते हैं। वे विदेशी ईसाइयों, मुसलमानों और यहूदियों के मुकाबले कम कट्टर, जिद्दी और आक्रामक होते हैं। उनकी सहिष्णुता की भावना उन्हें विदेशी सहधर्मियों से कहीं ऊंचा उठाती है। उसका रहस्य क्या है? उसका कारण उनका भारतीय होना है। इसी भारतीयता का दूसरा नाम हिंदुत्व है।

हिंदू शब्द ही मुसलमानों की देन है। भारत के किसी धर्मग्रंथ में हिंदू शब्द मुझे देखने को नहीं मिला है। सारे भारतीयों के लिए 'हिंदू' शब्द वैसा ही है, जैसा कि अरब देशों में रहने वाले किसी भी मुसलमान, ईसाई और यहूदी के लिए 'अरब' शब्द होता है। भारत के किसी भी धर्म को मानने वाला नागरिक जब चीन, जापान, क्यूबा, इराक, ईरान या लेबनान जाता है तो वहां के आम लोग उसे क्या कहकर पुकारते हैं? उसे हिंदी, हिंदू, हिंदवी, इंडीज़, इंडियन आदि कहते हैं। सिंधु नदी के पार रहने वाले सभी लोगों को हिंदू कहा जाता था। इसी हिंदू शब्द की सही और उदार व्याख्या मोहन भागवत कर रहे हैं। यदि इस उदार व्याख्या को भाजपा और संघ के करोड़ों कार्यकर्ता हृदयंगम कर लें तो भारत से सांप्रदायिक तनाव हमेशा के लिए समाप्त हो सकता है।

लेकिन इससे भी ज्यादा जरूरी यह है कि हर भारतीय अपनी भारतीयता पर गर्व करे और फिर वे किसी भी मजहब, संप्रदाय या विचारधारा को मानें, यह उनकी मर्जी है। जो लोग धर्म या मजहब के नाम पर झगड़े करते हैं, तलवार भांजते

हैं, थोक धर्मांतरण करते हैं, वे सच्चे अर्थों में धार्मिक ही नहीं हैं। जिनके दिल में भगवान या अल्लाह या जिहोवा या अहुमज्द बसा हुआ है, उन्हें फर्क नहीं पड़ता। उनके लिए मंदिर और मस्जिद में फर्क नहीं है। जिन बादशाहों ने मंदिर गिराए हैं, उन्होंने मस्जिदें भी गिराई हैं। उनके लिए अल्लाह तो मिथ्या हुआ, सत्ता ही सत्य थी। सच्चाई तो यह है कि मंदिर और मस्जिद के झगड़ों का ईश्वर या अल्लाह और धर्म या मजहब से कुछ लेना-देना नहीं है। इसीलिए इनके नाम पर इतिहास को दोहराना, वर्तमान भारत को विराट गृह-युद्ध में फंसाना होगा।

Date:04-06-22

हमारी प्रतिभाएं बाहर जाती रहीं तो देश कैसे बदलेगा?

मकरंद परांजपे, (जेएनयू में प्राध्यापक)

नए भारत के लिए शिक्षा सबसे जरूरी है। शिक्षा के क्षेत्र में नेतृत्व के बिना हम कभी भी दुनिया से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकेंगे। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने अपने कार्यकाल के आठ वर्ष पूरे कर लिए हैं। पूछा जाना चाहिए कि इन सालों में केंद्र सरकार ने शिक्षा के क्षेत्र में क्या काम किया है? इस सवाल का जवाब तभी दिया जा सकेगा, जब हम पहले यह जानें कि मोदी को विरासत में कैसी शिक्षा प्रणाली मिली थी और शिक्षा में कोई भी गम्भीर सुधार लाने की राह में कड़ी चुनौतियां कौन-सी हैं।

सबसे पहली बात तो यह कि क्या इसमें कोई संदेह है कि पूरे देश के वामपंथी-झुकाव रखने वाले कॉलेज कैम्पसों में एक मोदी-विरोधी युवा आंदोलन छेड़ा गया था? जेएनयू इसमें अग्रणी था। मैं उस संघर्ष का साक्षी रहा था, और मैं जेएनयू में इकलौती ऐसी आवाज था, जो उस समय दूसरे पक्ष को सामने रख रहा था। लेकिन बात केवल जेएनयू तक ही सीमित नहीं थी। हैदराबाद सेंट्रल यूनिवर्सिटी, बीएचयू, जादवपुर यूनिवर्सिटी, जामिया मिलिया, एएमयू आदि अनेक कैम्पसों में अगर देश-विरोधी नहीं तो भाजपा-विरोधी और सरकार-विरोधी आंदोलन तो निश्चय ही छेड़े गए थे। इन सभी के सूत्रधार वाम और इस्लामिस्ट विचारधाराओं से प्रेरित थे। उन्हें विपक्षी पार्टियों का समर्थन प्राप्त था। यह देश का सौभाग्य था कि वे तमाम आंदोलन नाकाम साबित हुए और उनके कर्णधारों में से कोई जेल में है, किसी ने पार्टी बदल ली है और कोई राजनीतिक रूप से हाशिए पर हैं।

इस उग्र और नकारात्मक छात्र-राजनीति के अलावा जाति-आधारित कोटा-प्रणाली ने भी शिक्षा प्रणाली को बंधक बना रखा है। आज देश के हर सार्वजनिक कॉलेज या यूनिवर्सिटी में तकरीबन हर सीट किसी जाति या पिछड़े वर्ग या अन्य के लिए आरक्षित हो चुकी है। ऐसा लगता है कि आज शिक्षा या किसी सरकारी क्षेत्र में नौकरी पाने के लिए सबसे बड़ी पात्रता किसी वंचित वर्ग से होना है। इसका यह मतलब है कि पिछले दशक में लाखों युवाओं ने अरबों डॉलर खर्च करके देश से बाहर नौकरी या वैसी शिक्षा पाने का प्रयास किया है, जिसके लिए वे अपने देश में भी भुगतान करने को तैयार थे, लेकिन वह उन्हें उपलब्ध नहीं थी। भारत को दुनिया का एजुकेशन-हब बनाना तो दूर, आज तो हम अपनी सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाओं को देश से बाहर धकेल दे रहे हैं, जैसा कि यूक्रेन में मेडिकल की पढ़ाई करने गए 60 हजार छात्रों की संख्या से प्रमाणित होता है।

जटिल और अंतहीन कोटा, अल्पसंख्यक संस्थान, राजनेताओं व भू-माफियाओं द्वारा संचालित कॉलेज, अनियमित निजी संस्थान- इन सबने भारत में उच्चशिक्षा का नाश कर दिया है। इसके मूल में है राजनीतिक हस्तक्षेप, वोट-बैंक राजनीति, विशेष हितों का तुष्टीकरण, पक्षपात और जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र, नस्ल के नाम पर सौदेबाजियां। यही कारण है कि आज हमारे अधिकतर ग्रेजुएट्स अगर नाकारा नहीं तो बेरोजगार जरूर हैं। प्राथमिक शिक्षा में तो और अराजकता है। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो सरकारी स्कूलों की दशा शोचनीय है। इस कारण निजी और शोषक स्कूल संचालक इंग्लिश-मीडियम के नाम पर बाजार पर छा गए हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति जरूर अधिसूचित की गई है, जो एक बेहतर दस्तावेज है। लेकिन आज उसका जितना प्रचार किया जा रहा है, वह यही बताता है कि हम अभी तक टॉप-डाउन एप्रोच से मुक्त नहीं हो सके हैं। ऊपर से एक नीति घोषित की जाती है, जिसे देश में एक भीमकाय नौकरशाही-तंत्र के द्वारा लागू किया जाता है। नेशनवाइड कॉमन एंट्रेंस एग्जाम से निश्चित ही केंद्रीय संस्थानों में एडमिशन के लिए हेरफेर कम होगी, लेकिन सब कुछ केंद्रीकृत और ऊपर से निर्देशित होने से स्वायत्तता और रचनात्मकता भी घटेगी। हमें नई नीति से ज्यादा हर संस्थान में बेहतर प्रशासन की जरूरत है। शिक्षा प्रणाली में जमीनी स्तर पर सुधार जरूरी हैं। अगर हम गुणवत्ता को प्रोत्साहित करेंगे और प्रतिभाहीनता को हतोत्साहित करेंगे तो शेष अपने आप ठीक होता चला जाएगा। अनिर्णय में अनेक दशक बिता देने के बावजूद अब भी देरी नहीं हुई है।

Date:04-06-22

हम सिर्फ विकल्प ही तलाशते हैं, वैकल्पिक नजरिया नहीं खोजते

चिन्मय मिश्र, (वरिष्ठ पर्यावरणविद्)

छां दोग्योपनिषद में आया है, 'दे सोम्य! यह (जगत्) आरंभ में सत ही था, एक ही, अद्वितीय था।' 'हे सोम्य! ऐसा कैसे हो सकता है? असत् से सत् कैसे होगा?' उसने सोचा, 'मैं बहु होऊं मेरा विस्तार हो।' उसने तेज उत्पन्न किया। तेज ने सोचा, 'मैं बहु होऊं, मेरा विस्तार हो।' उसने पानी उत्पन्न किया। उन जलों ने सोचा 'हम बहु होवें, हमारा विस्तार होवे।' उन्होंने अन्न उत्पन्न किया। इन सब प्राणियों में तीन ही बीज अर्थात तीन ही जातियां या प्रकार होते हैं। अंडज (अंडे से उत्पन्न जीव), जीवज (जीवन से भरा हुआ जैसे बच्चा) और उदभिज्ज (यानी धरती फोड़कर बाहर आने वाले जैसे पेड़, पौधे, झरने आदि।)

जीवन की इस परिभाषा को ध्यान में रखें तो स्पष्ट है कि सृष्टि के आदि नियम समकालीन भी हैं। कोई मूलभूत अंतर इनमें आ पाना संभव ही नहीं है। फिर पिछले कुछ दशकों में ऐसा क्या हो गया कि हमें पृथ्वी पर जीवन ही संकट में दिखने लगा। यह संकट उपरोक्त वर्णित तीनों बीजों में साफ दिख रहा है। पशु-पक्षियों, मनुष्य व पशुओं और वनस्पति जगत सब पर संकट है। यदि प्रकृति स्वयंभू है, तो क्या उसे नष्ट किया जा सकता है? कुछ दशक पहले तक हम प्रकृति पर पुरुष (मनुष्य) की विजय को समारोहित कर रहे थे। परंतु वह तो वास्तव में क्रमबद्ध पराजय ही थी। हम जिस विकास पर्वत पर चढ़ रहे थे, उस प्रक्रिया में हम अपने उतरने के रास्ते स्वयमेव नष्ट करते जा रहे थे। पगडंडी को अपनाने की जगह हमने जो रास्ता बनाया वह धीमे-धीमे चौड़ा होता गया। उस चौड़े रास्ते को बनाने में जो विकास ब्रांड

का रोड रोलर इस्तेमाल हुआ, उसने उस सारी जमीन को बंजर बना दिया। उसे इतना सख्त कर दिया कि अब उसमें कोंपलें फूटती ही नहीं।

पृथ्वी ने लाखों-करोड़ों वर्षों से अपने भीतर बहुत कुछ सहेज कर रखा था। मनुष्य ने जहां एक ओर प्रकृति का अतिक्रमण किया, वहीं दूसरी ओर उसने स्वयं अपना भी अतिक्रमण किया। उसका हर कदम कमोवेश अमरत्व प्राप्ति को ही प्रेरित था। ऐसे में उसे लगा कि भविष्य तो उसका ही है। अमरत्व की वह प्रक्रिया उसे कम से कम लंबा जीवन देने में तो सक्षम हो ही गई। सन् 1950 में विश्व जनसंख्या 2.5 अरब थी और आज 7.5 अरब है। यानी तीन गुना वृद्धि। इसी अनुपात में ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन भी बढ़ा है। हम पृथ्वी, पर्यावरण या पारिस्थितिकी को बचाने के लिए प्रयत्नशील ही नहीं हैं। हम सिर्फ अर्थव्यवस्था बचाना चाहते हैं। उपभोग बढ़ाना चाहते हैं। क्या इससे प्रकृति बच पाएगी? वास्तविकता यह है कि हम सिर्फ विकल्प ही तलाशते हैं, वैकल्पिक नजरिया नहीं खोजते। हम हरित व्यवस्था चाहते हैं, लेकिन हरित तकनीक (ग्रीन टेक्नोलॉजी) अमीर देशों की बपौती है। भारत कार्बन उत्सर्जन में भी कमी करेगा, जब उसका स्तर यूरोप व अमेरिका के स्तर तक पहुंच जाएगा। 35 करोड़ का देश व 135 करोड़ का देश यदि समान मात्रा में प्रदूषण फैलाएंगे तो परिणाम क्या होगा?

भारत 50 डिग्री तापमान पर शीशे की बाहरी दीवारें बनाकर तापमान वृद्धि रोकना चाहता है? हर घर में कार पहुंचा कर प्रदूषण रोकना चाहता है? हर खेत को रसायन निर्भर बनाकर नदियां बचाना चाहता है? बांध बनाकर नदी बचाना चाहता है? अगर बचना और बचाना है तो उत्पादन इकाइयों में बाह्य उर्जा के प्रयोग को बेहद सीमित करना होगा। गांधी को याद करने से बात नहीं बनेगी, उन्हें अपनाना ही पड़ेगा। वर्ना वह दिन दूर नहीं जब हम पश्चाताप में उनकी मूर्ति पर सिर फोड़ रहे होंगे।

जनसत्ता

Date:04-06-22

विवाद बनाम विवेक

संपादकीय

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रमुख का ताजा बयान सुलझा हुआ और मंदिर-मस्जिद संबंधी विवादों को सुलझाने का रास्ता दिखाने वाला है। ज्ञानवापी मस्जिद को लेकर पिछले कई दिनों से विवाद छिड़ा हुआ है। मस्जिद परिसर के सर्वेक्षण में मिले कुछ प्रतीकों को लेकर हिंदू पक्ष के काफी लोग उत्साहित हैं। हालांकि सर्वेक्षण की प्रक्रिया को गोपनीय रखने का अदालती आदेश था, पर उसके ब्योरे सर्वेक्षण के दौरान ही बाहर आते गए, जिससे मस्जिद परिसर में मिले प्रतीकों को लेकर बहसें शुरू हो गईं। लोग पक्ष और विपक्ष में बंट गए। ऐसे में मोहन भागवत ने लोगों को संयम से काम लेने और अदालत के फैसले को मानने की सलाह दी है। उन्होंने यह भी साफ कर दिया कि इस्लाम आने के बाद देश भर में बहुत सारे मंदिर तोड़े गए, बहुत सारी मस्जिदों में हिंदू प्रतीक मिल सकते हैं, मगर इसका मतलब यह नहीं कि हर मस्जिद को

खोद कर हिंदू प्रतीक निकाले जाएं। अयोध्या आंदोलन के बाद संघ ने चूंकि घोषणा कर दी थी कि वह अब किसी और देवस्थान के लिए आंदोलन में हिस्सा नहीं लेगा, इसलिए वह अब इस तरह के किसी भी विवाद में उलझना नहीं चाहता।

निस्संदेह सरसंघचालक के इस बयान से बहुत सारे लोगों में भरोसा पैदा हुआ है कि ज्ञानवापी या इस तरह के दूसरे मामलों में संघ लोगों को प्रोत्साहित नहीं करेगा। ज्ञानवापी परिसर में मिले हिंदू प्रतीकों से उत्साहित होकर अनेक हिंदू संगठनों और उनके कार्यकर्ताओं ने एलान कर दिया कि वे देश भर में विवादित मस्जिदों से जुड़े मामले अदालतों में ले जाएंगे। कई मस्जिदों के नाम भी रेखांकित कर दिए गए। कुछ लोगों ने अड़तालीस हजार ऐसे पूजास्थलों की सूची बना डाली। स्वाभाविक ही इस तरह के उन्माद से अल्पसंख्यकों में भय का माहौल बना है। कई मुसलिम नेता इसे लेकर केंद्र सरकार पर निशाना साधते भी देखे जाने लगे हैं। ऐसे में उम्मीद जगी है कि मोहन भागवत के बयान से वे लोग कुछ सीख लेंगे, जो मंदिर-मस्जिद विवाद पैदा कर देश में अस्थिरता का माहौल बनाने और सौहार्द बिगाड़ने का प्रयास कर रहे हैं। चूंकि संघ का प्रभाव व्यापक जनसमुदाय तक है और उसके प्रमुख का कोई भी बयान लोग ध्यान से सुनते और उस पर अमल करते हैं, इसलिए माना जा रहा है कि उनके ताजा बयान से ऐसे विवादों पर विराम लगेगा और लोग विवेक से काम लेंगे।

पिछले कुछ समय से ऐसी अवधारणा बनाने का प्रयास किया गया है कि जैसे मुसलिम इस देश के नागरिक नहीं हैं। इसके चलते कई बार तल्ख और अमर्यादित टिप्पणियां भी सुनने को मिली हैं। मोहन भागवत ने उस अवधारणा को खंडित करते हुए नसीहत दी है कि हिंदू और मुसलमान में कोई भेद नहीं। मुसलिम भी इसी देश के नागरिक हैं, यहीं की संस्कृति में पले-बढ़े हैं। दोनों के पूर्वज समान हैं। दोनों की परंपराएं समान हैं। उनसे नफरत का कोई आधार नहीं होना चाहिए। हर किसी को अपनी पूजा पद्धति के साथ-साथ दूसरों की पूजा पद्धति का भी सम्मान करना चाहिए। हालांकि सरसंघचालक पहले भी ऐसी नसीहत लोगों को दे चुके हैं। तब भी उम्मीद बनी थी कि समाज में नफरत फैलाने वाले उससे कुछ सबक लेंगे। मगर शायद उस पर बहुत सारे लोगों ने अमल करना जरूरी नहीं समझा। अब नए बयान के बाद फिर उम्मीद जगी है कि लोगों का विवेक जागेगा। मगर वास्तव में भागवत के इस बयान का कितना असर होगा, देखने की बात है।

Live हिन्दुस्तान .com

Date:04-06-22

हम दो, हमारे दो और हमारी प्रजनन दर भी दो

दिलीप डिसूजा, (वरिष्ठ पत्रकार)

सन 1981 की जनगणना के ठीक बाद की बात है। उस जनगणना में यह पता चला कि अनपढ़ भारतीय महिलाओं की शादी औसतन साढ़े सोलह साल की उम्र में हो जाती है। उसमें यह भी पाया गया कि प्राथमिक स्कूल जाने वाली लड़कियों की शादी औसतन 17 साल तीन महीने के बाद होती है। यानी, प्राथमिक स्कूल में जाने से शादी की औसत उम्र में तकरीबन नौ महीने की वृद्धि होती दिखी। तो सवाल यह है कि जब प्राथमिक स्कूल की पढ़ाई करने से महिलाओं के बच्चे पैदा करने वाले वर्षों में नौ महीने (एक संभावित गर्भधारण) की कमी आती है, तो जब वे उच्च शिक्षा ग्रहण करेंगी, तब क्या होगा? यदि कोई भारतीय महिला कॉलेज की डिग्री हासिल करती है, तो उसकी शादी औसतन 21वर्ष, आठ महीने में होती है। यह अशिक्षित स्त्री की तुलना में पांच साल से ज्यादा का वक्त है, यानी करीब सात संभावित गर्भधारण। जाहिर है, हमें महिलाओं को शिक्षित करने के बारे में सोचना चाहिए, ताकि प्रजनन वाले वर्षों को आगे बढ़ाया जा सके। इस तरह यह जनसंख्या वृद्धि को थामने का एक प्रभावी तरीका हो सकता है।

यह आज प्रासंगिक क्यों है? इसकी वजह कुल प्रजनन दर है। यह किसी महिला के जीवनकाल में बच्चे पैदा करने की संख्या होती है। इसका जनसंख्या वृद्धि से सीधा नाता है, यानी जिस देश में प्रजनन दर जितनी अधिक होगी, वहां उतनी तेजी से आबादी बढ़ेगी। अमीर देशों में यह दर कम है, जबकि गरीब मुल्कों में ज्यादा। जहां भी जनसंख्या नियंत्रण को लेकर उपाय किए गए हैं, वहां लक्ष्य इसी प्रजनन दर को दो से कम रखना है। इसे 'रिप्लेसमेंट लेवल' कहते हैं, क्योंकि यह माना जाता है कि दो बच्चे का मतलब है, एक लड़का और एक लड़की का पैदा होना, जो आगे चलकर खुद माता-पिता की जगह ले लेंगे। सैद्धांतिक रूप से यदि किसी देश की प्रजनन दर दो है और कोई अप्रवासी नहीं है, तो वहां की आबादी में कोई बदलाव नहीं होगा। इसकी चर्चा आज इसलिए हो रही है, क्योंकि भारत में कुल प्रजनन दर वर्षों से घट रही है और अब यह दो के करीब पहुंच चुकी है। अगर यह सही है, तो हमारे यहां जनसंख्या वृद्धि जल्द ही रुक जाएगी, बल्कि यह कम होने लगेगी।

सवाल यह है, जब हम प्रजनन दर को दो पर लाने में सफल हो गए हैं, तब इस उपलब्धि का जश्न क्यों नहीं मनाया जा रहा? मैं इसका जवाब नहीं दे सकता, लेकिन यह सोचने वाली बात जरूर है। वैसे, भारत जैसे बड़े देश में अन्य आंकड़ों की तरह प्रजनन दर को महज उद्धृत कर देना भ्रामक हो सकता है, और इससे सही तस्वीर नहीं आ सकती। मसलन, गल्फ न्यूज के लिए लिखे अपने लेख में शिवम विज बताते हैं, बिहार, झारखंड, उत्तर प्रदेश जैसे बड़े उत्तर भारतीय राज्यों में प्रजनन दर अब भी दो से अधिक है। बिहार में तो यह तीन है, जो कम से कम 15 वर्षों तक दो पर नहीं आने वाली। यह तस्वीर दक्षिण भारतीय राज्यों की शिकायतों को उजागर करती है कि उन्होंने जनसंख्या वृद्धि को थामने की कड़ी मेहनत की, लेकिन उत्तर भारतीय राज्यों ने ऐसा नहीं किया। फिर भी, यदि जनसंख्या बंटवारे को बेहतर ढंग से प्रदर्शित करने के लिए संसदीय प्रतिनिधित्व में संशोधन की बात होगी, तो उत्तरी राज्यों को अधिक सीटें मिलेंगी, क्योंकि उनके

पास अब भी आबादी ज्यादा है। साफ है, इस तरह की कवायद वास्तव में जनसंख्या वृद्धि को थामने के प्रति उनकी उदासीनता को पुरस्कृत करना होगा।

बहरहाल, यह अलग बहस का विषय है। मेरा सिर्फ यह कहना है कि हम महिलाओं को शिक्षित करके ही उसके बच्चे पैदा करने वाले वर्ष को छह साल तक कम कर सकते हैं, यानी बिना किसी अन्य उपाय के प्रजनन दर कम कर सकते हैं। और, घटती प्रजनन दर को भारत की जनसंख्या वृद्धि में आ रही गिरावट में हम देख सकते हैं। मगर इसमें एक परेशान करने वाला सच भी छिपा हुआ है। यह गिरावट लड़कों की तुलना में लड़की में अधिक है। इसका अर्थ है कि शिक्षा के स्तर में वृद्धि से बेशक प्रजनन दर में कमी आती है, लेकिन इससे लड़कों के जन्म को तवज्जो देने की मानसिकता पर बहुत ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता। यानी, प्रजनन दर में कमी भारत में लड़कों के पक्ष में लिंगानुपात भी बढ़ा रही है। तो ऐसे में, हमें प्रजनन दर के दो पर आने का क्या जश्न मनाना चाहिए? इसका जवाब हमें खुद में खोजना होगा।

THE HINDU

Date:04-06-22

Control and delete

A Government committee is not the solution to problems with the social media.

Editorial

The Government's plan to set up a panel that can overturn content moderation decisions made by social media platforms is problematic in many ways. The idea, which has been proposed as an amendment to the controversial IT Rules, 2021, is to constitute one or more appellate committees which will have the final word on any content moderation issue facing a social media platform. The trigger for these Government-appointed committees to come to life will be, say, an appeal by a social media user who feels aggrieved by an order of the platform's grievance officer. "Government policies and rulemaking are committed to ensure an open, safe, and trusted and accountable Internet for its users. As Internet access continues to rapidly expand in India, new issues related to the above commitments also keep emerging," the draft reportedly says. It will be naive to think of such an aggrieved user as someone who has no axe to grind. With billions of users, social media is well and truly an influencing machine, and filled with influencers of all hues and shades. It is, therefore, important for democracy's sake that it is not taken over by any one influential player, even if it is the Government, with an agenda.

But this is exactly what the mechanism will help to serve — tighten the Government's grip on messaging on social media intermediaries, which not long ago served to disseminate alternative voices. Imagine how absurd it will be, for instance, if a Government-appointed committee sits to decide on an issue in which the aggrieved user is a Government entity or a ruling party member. How fair can that be? What makes it worse is in recent years, the Government has not covered itself with glory when dealing with dissent, in the real world and on social media. This will not only add another layer of complexity to the problematic

IT rules that were introduced last year but also another lever of Government control. The IT rules were widely criticised, including by this newspaper as "deeply unsettling" for the kind of leverage that they give to the Government over digital channels, with troubling implications for freedom of expression and right to information. Ironically, they were launched by the then-Minister as a "soft-touch oversight mechanism". It should be noted that the last word has not been said on those rules, what with pending legal challenges to them. All this is not to say that social media platforms should not be regulated. Far from it. What should be clear after all these years is that a Government committee is not the right answer for many woes, let alone social media ones. And in this case, it comes with dangerous implications for free speech. It is best, therefore, that the proposal is dropped.

Date:04-06-22

New India needs free and quality higher education

Corporates, alumni and the government can work towards creating strong philanthropic support and tax breaks.

Rajesh Mehta is a leading consultant and columnist working on market entry, innovation and public policy. Pritam B. Sharma is a renowned Indian academician, past President of the Association of Indian Universities, and founder Vice-Chancellor of the Delhi Technological University and Rajiv Gandhi Proudyogiki Vishwavidyalaya.

At a time when the demand for quality education and research in leading universities in India and advanced nations is on the rise, the staggering tuition fees demanded by universities of repute, besides deterring the meritorious from pursuing their degrees from world-class universities, create compulsions to turn professions into business propositions rather than opportunities to serve and excel.

Carving out a niche in the annals of the global education architecture, New York University's NYU Grossman School of Medicine announced that from the 2021–22 academic year, it will pay the tuition fees for all its students admitted in its MD programme, regardless of their financial needs, thereby becoming the first major American medical school to do so.

Kenneth G. Langone, Chair of NYU Langone Health's Board of Trustees, who made his U.S.$3.5 billion fortune as a co-founder of Home Depot, with his wife Elaine, has given U.S.$100 million to fund the tuition package. NYU has already raised more than U.S.$450 million of the U.S.$600 million it needs to fund the programme.

In India too, the burden of tuition fees in professional courses is becoming unbearable. Besides, it is causing a serious concern of reducing quality professional education to a commodity rather than the noble service that it ought to be.

Educational loans, even with government collateral guarantee, are no answer, as the mounting debt of educational loans will cripple the economy of development and public welfare. What we need is a university system that fosters an environment of learning in which world-quality education can be provided without taxing learners with the burden of tuition fees.

The Nordic model

The Nordic countries — Denmark, Finland, Iceland, Norway, and Sweden – provide free higher education to their people, and overseas students were able to study for free until recently. In Denmark, however, tuition fees were introduced for international students from outside the European Union and the European Economic Area, in 2006. Sweden followed suit in 2011. Only Finland, Norway, Iceland, and Germany do not charge international students tuition fees. This ensures that students receive quality education in the streams that they desire rather than pursuing streams that allow them to earn highly so as to repay their student debt.

As an article in January 2022 says: 'the Nordic model has attracted a significant amount of attention from other nations. Many people wonder if it provides a template for smaller countries where citizens are more homogeneous in terms of their opinions and experiences, yet live in poverty or repression as a result of government policies'.

Despite some attempts to impose fees, all these countries are outliers in a world where international students are frequently a valuable source of revenue for institutions. Last year, the topic resurfaced in Finland when the government recommended that institutions be allowed to charge tuition for international students from outside the European Union. Following a heated public debate, the Finnish government opted not to proceed with the proposals.

All Nordic countries have a strong legacy of equality, extending to equal opportunities in the education system. The Nordic countries have measures in place to promote gender equality and assist students from lower socioeconomic categories to gain access to higher education. It is no wonder that these countries continue to figure in top of the world happiness index (Finland at No.1, Denmark at No. 2, Iceland at No.4, Norway at No.8 and Germany at No.14, as per the World Happiness Index 2022).

It reshapes student choices

A ray of hope for evolving a progressive university system in professional education has been provided by NYU's Grossman School of Medicine. In its announcement, the NYU had pointed out the fact that "overwhelming student debt" is reshaping the medical profession in ways that are bad for the health-care system. Such debts prompt graduates to pursue high-paying specialties rather than careers in family medicine, paediatrics, and obstetrics and gynaecology. The lead taken by the NYU is bound to inspire many other leading universities to consider and value the student's intellectual acumen rather than financial investment.

But then, universities need funds for education and research. Education is a noble service and an investment to charter a bright future for humanity. If students pay for education, they would be forced to

earn from the degrees they acquire. The profession then becomes a privilege to earn rather than a privilege to serve and excel, as it ought to have been.

There is a strong case for reviving philanthropy and community support for higher education in India. Corporates, generous alumni, and people at large can join in to create strong philanthropic support for higher education and make quality education tuition-free. The government, for its part, should be generous enough to declare such philanthropic donations to the cause of higher education and research tax-free, now that the treasury is full of funds from the ever-growing list of income tax and the Goods and Services Tax (GST) payers.

Can we, then, make the prophecy of the great management guru, Philip B. Crosby, come true in higher education, who, during the quality revolution in the late 1970s, advocated that "Quality is Free!"